RNI MAHMAR
36829-2010

ISSN- 2229-4929

Peer Reviewed

# Akshar Wangmay

## International Research Journal
## UGC-CARE LISTED

**Special Issue, Volume- IV**
**Challenges of Higher Education in India to Compete with Global Level**

July 2021

**Chief Editor:**
**Dr. Nanasaheb Suryawanshi**

**Executive Editor:**
**Dr. Purandhar Dhanapal Nare**
**Principal,**
**Night College of Arts and Commerce,**
**Ichalkaranji**

**Co-Editor:**
**Dr. Madhav. R. Mundkar**

**Address**
**'Pranav', Rukmenagar,**
**Thodga Road, Ahmadpur, Dist- Latur 413515 (MS)**

Scanned with CamScanner

# AKSHAR WANGMAY

**International Peer Reviewed Journal**

**UGC CARE LISTED JOURNAL**

**July 2021**

**Special Issue,Volume-IV**

**On**

***CHALLENGES OF HIGHER EDUCATION IN INDIA TO COMPETE WITH GLOBAL LEVEL***

**Chief Editor**
**Dr. NanasahebSuryawanshi**
Pratik Prakashan, 'Pranav, Rukmenagar, Thodga Road Ahmedpur,
Dist. Latur, -433515, Maharashtra

**Executive Editor**
**Dr. Purandhar Dhanapal Nare**
Principal
Night College of Arts & Commerce, Ichalkaranji.

**Co-Editor**
**Dr. Madhav. R. Mundkar**
Assistant Professor, Head Dept. of Hindi
Night College of Arts & Commerce, Ichalkaranji.

**Editorial Board**
Prof. M. R. Dandekar
Prof. Dr. S. L. Randive
Prof. Dr. G. B. Khandekar
Prof. Dr. D. B. Bimale
Prof. Dr. R. V. Sapkal
Prof. Dr. S. V. Chaple
Prof. S. R. Patankar

**Published by**-Dr. Purandhar Dhanapal Nare, Principal, Night College of Arts & Commerce, Ichalkaranji.

***The Editors shall not be responsible for originality and thought expressed in the papers. The author shall be solely held responsible for the originality and thoughts expressed in their papers.***

**© All rights reserved with the Editors Price:Rs.1000/-**



Scanned with CamScanner

'Akshar Wangmay' UGC Care Listed, International Research Journal, ISSN: 2229-4929, July 2021, Special Issue, Volume-IV
*"Challenges of Higher Education in India to Compete with Global Level"*

## CONTENTS


| Sr. No. | Paper Title | Page No. |
|---|---|---|
| 1. | रंगनाथ पठारे यांच्या 'दुःखाचे श्वापद' मधील घटनाप्रसंग<br>प्रा. डॉ. हेमराज नानाभाऊ सिरसीस | 1-2 |
| 2 | मानव उन्नयन हेतु किताबों का आग्रह करती कविताएँ<br>डॉ. प्रवीणकुमार न. चौगुले | 3-6 |
| 3 | महात्मा गांधींचा धार्मिक व अध्यात्मिक दृष्टीकोन- एक दृष्टीक्षेप<br>प्रा.डॉ. सुनिल अजाबराव पाटील | 7-10 |
| 4 | वैश्विकतेला कवेत घेणारी आदिवासी कविता<br>प्रा.चिंतामण धिंदळे | 11-14 |
| 5 | उच्चशिक्षणातील मराठी भाषेच्या विकासाचे आव्हान<br>डॉ. रविकांत शिंदे | 15-17 |
| 6 | आत्मजयी' में मानवतावादी चिंतन<br>डॉ. दिलीपकुमार कसबे | 18-20 |
| 7 | अमेरिकेच्या 46 व्या राष्ट्राध्यक्ष पदाच्या निवडणुकीतील सत्तानाट्य<br>डॉ. शरद बाबुराव सोनवणे | 21-24 |
| 8 | उच्चशिक्षा नीति की समस्याएँ<br>डॉ. मा. ना.गायकवाड | 25-27 |
| 9 | शिक्षा के लिए छटपटाते उपेक्षित किन्नरों की दास्ताः 'यमदीप'<br>डॉ. एकनाथ श्रीपती पाटील | 28-30 |
| 10 | हिंदी दलित कविता के प्रेरणास्त्रोत : डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर<br>प्रा. रगडे परसराम रामजी | 31-34 |
| 11 | ग्रामीण भागातील उच्च शिक्षण घेणाऱ्या मुलींसमोरील समस्या<br>डॉ. सुप्रिया चंद्रशेखर खोले. | 35-37 |
| 12 | आंचलिक उपन्यासों में दलित जीवन विकास के विविध आयाम<br>डॉ.शंकर गंगाधर शिवशेट्टे | 38-43 |
| 13 | कबीरदास के काव्य में दार्शनिक चेतना की अभिव्यक्ति<br>डॉ. सुमन देवी | 44-46 |
| 14 | सूरदास के साहित्य में लोक जीवन और संस्कृति<br>डॉ ढानकीकर शोभा नारायणराव | 47-48 |
| 15 | आर्थिक आधार पर भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण<br>डॉ. संजय नाईनवाड | 49-51 |
| 16 | ग्लोबल गाँव के देवता' और 'टाह्रो' उपन्यास में आदिवासी-जीवन<br>तोंडाकुर लक्ष्मण पोतन्ना | 52-53 |
| 17 | वेश्याओं के मुक्ति कि अभिव्यक्ति उपन्यास 'क्या मुझे खरीदोगे ?'<br>प्रा. विकास कुंडलिक विधाते | 54-56 |
| 18 | किशोरावस्थेतिल वर्तन विषयक समस्या आणिमानसिक आरोग्याचा अभ्यास<br>डॉ. मिलिंद भगवानराव बचुटे, | 57-59 |
| 19 | शिवणकला कौशल्य संपादनाने महिलांमध्ये होणारा बदल<br>उर्मिला एस. खोत , डॉ. मंजुषा मोळवणे | 60-63 |
| 20 | जागतिकीकरण व मराठी ग्रामीण कादंबरी<br>डॉ.योगिता मारुती रांधवणे | 64-66 |




Scanned with CamScanner

# आर्थिक आधार पर भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण

*डॉ. संजय नाईनवाड*
*सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग एस. बी. झाडबुके महाविद्याल, बार्शी*
*तहसील - बार्शी, जि – सोलापुर 413401*

भारतीय जनजातियों को नृविज्ञानियों ने - प्रजातीय आधार पर, भौगोलिक आधार पर, भाषायी आधार पर, सांस्कृतिक आधार पर एवं आर्थिक आधार पर वर्गीकृत किया है। भारतीय जनजातियों को आर्थिक आधार पर वर्गीकृत करने का प्रयास एडम स्मिथ, थर्नवाल्ड, हर्षकोव्टिस्, मजूमदार तथा मदन एवं श्यामाचरण दुबे जैसे नृविज्ञानियों ने किया है। लेकिन मजूमदार, मदन एवं दुबे का वर्गीकरण ही भारतीय आदिवासियों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। श्यामाचरण दुबे ने भारतीय आदिवासियों को आर्थिक दृष्टि से छह वर्गों में वर्गीकृत किया है। लेकिन वे यह बात भी स्पष्ट कर देते हैं कि यह सामान्य वर्गीकरण भर है। इसमें कोई भी वर्ग अपने आप में परिपूर्ण नहीं है। सामान्यतय: आर्थिक आधार पर निम्न रीति से भारतीय जनजातियों को वर्गीकृत किया जाता है -

**खाद्य-संकलन एवं शिकार स्तर**

भारत की जो आदिवासी जातियाँ घने वनों में निवास करती हैं। वे अपना जीवन-यापन अधिकांश खाद्य-संकलन-स्तर पर करती हैं। श्यामाचरण दुबे के अनुसार "भारतीय आदिवासी समाज का पुरातनतम तत्व आधुनिक काल की कतिपय ऐसी छोटी-छोटी जन-जातियों में अवशिष्ट है, जो खाद्य संकलन तथा शिकार आदि से अपना जीवन-यापन करती हैं।"[1] खाद्य-संकलन पर जीविका चलानेवाली जनजातियों के संकलन का स्तर ऋतुओं के अनुसार बदलता रहता है। इनकी जीविका के साधनों में खाद्य संकलन, शिकार, मछली मारना जैसे माध्यमों का उपयोग भी किया जाता है। इस स्तर की अधिकांश जनजातियाँ आज भी पाषाणयुग संस्कृति से अधिक विकसित नहीं हो पायी हैं। ऐसे आर्थिक संगठनवाली जनजातियों की संख्या अधिक नहीं हैं। इनके गाँव ज्यादा बडे नहीं होते, कुछ-कुछ गाँवों में तो दस-पंद्रह परिवार ही पाये जाते हैं। इन्हें कंदमूल, फल, फूल, पौधे, महूआ, वड, आम, पीपल, तेंदू, चार आदि से आंशिक रूप से खाद्य सामग्री प्राप्त होती हैं। कभी कभार वे स्वादहीन कंदों को भी मधु, मीठे फल का रस, महुआ आदि में मिलाकर रूचिकर बनाने का प्रयास करते हैं। ऐसी जनजातियों में बिहार के बिरहोर और खडिया, आसाम के कूकी, कोन्यक आदि, वस्तर के पर्वतीय माडिया, गोंड, उत्कल के कुछेक जुआंग समूह, हैद्राबाद के चेंचू, दक्षिण-भारत में काडर तथा त्रावणकोर की माला पांतारम आदि जनजातियाँ इस वर्ग में आती हैं।

**अस्थिर प्राथमिक कृषि स्तर**

अस्थिर प्राथमिक कृपि स्तर की जनजातियों में तीन प्रकार से कृषि करनेवाली जनजातियाँ सम्मिलित हैं जिसमें - अ) कुदाल से कृपि करनेवाली जनजातियाँ ब) मनुष्य शक्ति द्वारा व्यवहृत आद्य हल से कृषि करनेवाली जनजातियाँ और क) मनुष्य श्रम द्वारा कृपि करनेवाले वे समूह जिन्होंने सिंचाई की समुचित व्यवस्था का विकास कर लिया है, का समावेश इस स्तर के आदिवासियों में होता है। इसमें 'अ'और 'ब'वर्ग खाद्य संकलन स्तर के शिकार करनेवाली जनजातियों के थोडे समीप दिखाई देते हैं। लेकिन वे पूर्ण रूप से खाद्य संकलन पर निर्भर नहीं होते।

कुदाल से कृषि करनेवाली जनजातियाँ पाषाणयुग की प्रणाली से कृषि करके खाद्य-प्राप्ति के साधनों में से एक महत्वपूर्ण साधन की वृद्धि कर लेते हैं। श्यामाचरण दुबे के अनुसार "कुदाल से कृषि प्रकार की अर्थ-व्यवस्थावाले समूहों में छत्तीसगढ़ के कमार, आंध्र के कोंडा और रेड्डी, मध्य प्रदेश की बौगा जैसी जनजातियाँ उल्लेखनीय है।"[2] कुदाल से कृषि करनेवाली जनजातियाँ गर्मी के दिनों में ही कृषि भूखंड का चुनाव कर लेती हैं। चुने हुए भूखंड से छोटे पेडों को पूरी तरह से और वडे पेडों की शाखाओं को काटकर सुखाया जाता हैं। वर्षा के पूर्व उन लकडियों को जलाकर राख बना ली जाती है। वर्षा के आरंभ होते ही चुने हुए भूखंड में जगह-जगह कुदाल से छोटे-छोटे गड्ढे बनाकर राखवाली मिट्टी में बीज बोये जाते हैं। इस तरह की कृषि को 'पोडू' कहा जाता है। ऐसी कृषि पहाड के ढ़ालों पर छोटे-छोटे खेत बनाकर की जाती हैं।

मनुष्य शक्ति द्वारा आद्य हल से कृषि करनेवाली जनजातियाँ मनुष्य को खेत से जोतकर कृषि करती हैं। इनकी कृषि को 'झूम', 'बेवार'तथा 'डाही'कहा जाता है। इस प्रकार की कृपि बहुत ही श्रमसाध्य होती है। इस प्रकार की कृषि करनेवालों में उत्कल के कुट्टिया खोंड, वस्तर के माडिया, मंडला के बौगा आदिवासी प्रमुख हैं। इनके परिवार की सदस्य संख्या सिमित होती है। इस कारण जिस भूखंड पर कृषि की जाती है उसका क्षेत्रफल भी सिमित होता है। ये भी राख में बीज बोते हैं। इस पद्धति से अधिक उपज होती है। पर इस प्रकार की कृषि में कुछ साल बित जाने के बाद

Scanned with CamScanner

कृषि भूमि को बदलना जरूरी हो जाता है। जिस नये स्थान पर वे जाते हैं वहाँ फिर से जंगलों को जलाकर खेती की जाती है। इस प्रकार की खेती से होनेवाले वन-विनाश के बारे में समय-समय पर वन-विशेषज्ञों तथा शासन की ओर से उनको अगाह किया जाता है लेकिन "अधिकांश परंपरा द्वारा स्वीकृत इस प्रणाली में परिवर्तन करने के लिए तैयार नहीं हैं। मंडला की बौगा जनजाति के मिथकों में अस्थिर 'बेवार' प्रणाली को ही मान्यता प्राप्त है। वे हल और बैलों का प्रयोग कर धरती माता के वक्ष पर अत्याचार करना अनुचित समझते हैं।"[3]मानव श्रम द्वारा कृषि करनेवाले ऐसे समूह आदिवासियों में आज भी विद्यमान है जिन्होंने बिना किसी आधुनिक तकनीक के आदिम ज्ञान पर ही सिंचाई की समुचित व्यवस्था का विकास कर लिया है। ऐसे समूहों में आसाम तथा उत्तर-पूर्वी सीमांत के आपातानी प्रमुख हैं। पहाडी टेरेसों की सिंचाई के लिए पहाडों पर बहनेवाले पानी का समूचित उपयोग कर आसाम की आपातानी जैसी कुछेक जनजातियों ने प्राथमिक-निर्माण कला का एक अभूतपूर्व एवं सफल उदाहरण प्रस्तुत किया है।

**स्थिर प्राथमिक कृषि स्तर**

अस्थिर कृषि पर सरकार द्वारा रोक लगाने के कारण व आधुनिकता के चलते मौजूदा दौर में आदिवासियों में स्थिर कृषि का प्रचलन बढ़ने लगा है। जिससे कुछ आदिवासी जातियाँ स्थिर कृषि करने लगी हैं। अन्य जनजातियों की अपेक्षा मध्य प्रदेश, पूर्वी भारत तथा दक्षिण भारत के स्थिर एवं स्थायी कृषि करनेवाले गोंड़, मुंडा, उराँव, कोया, आदि समूहों की संस्कृतियाँ अपेक्षाकृत अधिक विकसित हैं। इस वर्ग की जनजातियों की संख्या में बढ़ौतरी हो रही हैं। "1991की जनगणना के अनुसार भारत के मुख्य जनजातीय श्रमिकों का 54.50 प्रतिशत कृषक के रूप में तथा 32.69 प्रतिशत कृषक श्रमिक के रूप में कार्यरत हैं।"[4] इन समूहों की कृषि प्रविधियाँ तथा तरीके अन्य कृषक समूहों के समान हैं तथा वे बैलों, हल तथा अन्य कृषि उपकरणों का भी प्रयोग करते हैं। इनमें भी अधिकांश की कृषि भूमि असिंचित है। इनकी कृषि मोसमी वर्षा पर आधारित होने के कारण अनिश्चितता का शिकार बनी है। इन्हें कृषि के अन्य कारक जैसे - उर्वरक, उच्च पैदावारवाले बीज, कीटनाशक आदि के अभाव में निम्न एवं कम उपज पर ही संतुष्ट रहना पडता है। स्थिर कृषकों में उराँव, मुंडा, संथाल, हो, थारू, खासी, गोंड, भील, राजगौंड आदि प्रमुख हैं।

**पशुपालक जनजातियाँ**

भारत की कुछ ऐसी भी जनजातियाँ हैं जो पशुपालन पर पूर्ण रूप से अवलंबित रहकर अपना उदर-भरण करती हैं। ऐसी जनजातियाँ संख्या की दृष्टि से कम हैं। पशुपालक आदिवासियों में से कुछ का आर्थिक जीवन दूध तथा दुग्धजन्य उत्पादित सामग्री पर अवलंबित है। कुछ जनजातियाँ दुग्ध तथा दुग्धजन्य उत्पादों के साथ ही भेड तथा बकरियों को मांस उत्पाद के लिए पालकर उन्हें बाजार में भी बेचती हैं। श्यामाचरण दुबे के अनुसार "जीविका के लिए संपूर्ण रूप से पशु-पालन पर अवलंबित रहनेवाली जन-जनजातियाँ भारत में हैं, किंतु उनकी संख्या बहुत कम है। दक्षिण के नीलगिरी पर्वत की टोडा जनजाति इस नियम का एक उल्लेखनीय अपवाद हैं। इस जनजाति की अर्थ-व्यवस्था पशु-पालन और विशेष रूप से भैस पालने के कार्य पर केंद्रित है।"[5] पशु-पालक जनजातियों में जम्मू एवं कश्मीर की गद्दी, हिमाचल की गुज्जर एवं गद्दी जनजातियाँ प्रमुख हैं।

**दस्तकारी-व्यवसाय पर आश्रित**

दस्तकारी व्यवसाय पर आश्रित आदिवासी समूह भारत में अपेक्षाकृत अधिक संख्या में मिलते हैं। गोंड, बोडो, कुरूंब, संथाल, वारली, मीणा जैसी जनजातियों को चित्रकारी में महारत हासिल है। इनकी चित्रकला पूर्णतः प्राकृतिक और अपनी प्राचीन विरासत सँजोए हुए है। कोचीन एवं त्रावणकोर के काडर कंघी बनाने में ख्यात हैं। नक्काशी में महाराष्ट्र की वारली जनजाति ने अंतरराष्ट्रीय ख्याति अर्जित की है। उत्तर-पूर्व की कुछेक जनजातियों ने परंपरागत कला तथा हस्तशिल्प पर आधारित कुटीर तथा लघु उद्योगों को विकसित कर अपने अर्थतंत्र के नए आयाम को अंजाम दिया है। "बिहार की विकासोन्मुख 'असुर'जनजाति प्राचीन साहित्य में वर्णित लोहे का काम करनेवाली इसी नाम के समूह की अवशिष्ट संतति है। यह जनजाति अभी भी अपने पुरातन उद्योग द्वारा जीवन-यापन करने का प्रयत्न करती है। मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में बिखरी 'आगरिया'जनजाति का भी यही परंपरागत व्यवसाय है, और वह 'असुर' समूह से संबंधित प्रतीत होती है। बस्तर की कुरूख जनजाति मछली मारने का पेशा करती है। इसी भाँति परधान जनजाति विशाल गोंड-संस्कृति का एक पूरक अंग है, जो गोंडों की पौराणिक गाथाओं के गायन तथा प्राथमिक वाद्य-यंत्रों के वादन से गोंड संस्कृति को पूर्णता देते हैं।"[6]

**उद्यमों में संलग्न जनजातियाँ**

Scanned with CamScanner

भारत में औद्योगिकरण की प्रगति के स्वरूप जनजातियों में इस वर्ग का उद्भव हुआ है। पश्चिम बंगाल, झारखंड एवं असम की जनजातियाँ चाय बागानों, खदानों, एवं कल-कारखानों में काम करती हैं। इसका और एक कारण यह हो सकता है कि कृषि पर बढ़ता दबाव तथा उद्यमों में श्रमिकों की बढ़ती मांग के चलते भारतीय जनजातियों का एक वर्ग इस रूप में उदित हो रहा है। लेकिन जनजातियों के लिए यह बहुत बड़े खतरे की घंटी है। मजूमदार के अनुसार "देश के कतिपय भागों में, मुख्यत: बिहार, बंगाल और असम में, जनजातीय लोग दुहरे रूप में अपने पारंपारिक व्यवसायों से हट रहे हैं। एक तरफ, भूमि हस्तांतरण और कर्ज की आर्थिक कठिनाइयाँ इन्हें बाहर 'धकेल' रही हैं तो, दूसरी तरफ, उद्योगों, वनों और असम के चाय बागानों की श्रमिकों की माँग इन्हें अपनी ओर खिंच रही हैं।"[7] ये औद्योगिक प्रतिष्ठान इन्हीं आदिवासियों की भूमि पर स्थापित होते हैं। परिणामत: आदिवासी अपनी भूमि से बेदखल होते जा रहे हैं। औद्योगिक प्रतिष्ठानों में इन आदिवासियों का शोषण भी पर्याप्त मात्रा में हो रहा है। इस पीडा को भोगते आदिवासियों में झारखंड, बिहार, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, असम जैसे राज्यों की जनजातियाँ प्रमुख हैं। यही हाल लगभग समुचे भारतीय औद्योगिक क्षेत्रों में दिखाई देता है।

**अपराध आश्रित जनजातियाँ**

प्राचीन काल से जाति-व्यवस्था भारतीय समाज की विशेषता रही है। जाति व्यवस्था ने किसी भी व्यक्ति का पद और भूमिका जन्म से ही तय कर दी थी। परिणामत: देश के विभिन्न इलाकों में ऐसी जातियाँ और जनजातियाँ बन गई जिनकी आजीविका का मुख्य साधन अपराध ही हो गया। देश में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद जब उनके सामने कानून व्यवस्था कायम करने की समस्या आयी तब इस समस्या से निपटने के लिए उन्होंने 1871 में पहला 'अपराधी जनजाति अधिनियम' कानून बनाया। इस अधिनियम के तहत शुरूआत में 47 जनजातियों को अपराधी जनजातियों की सूची में सूचिबद्ध किया गया था। बाद में इस सूची में बढ़ौतरी करते हुए लगभग 250 से भी अधिक जातियों को शामिल किया गया था। देश के स्वतंत्र होने के बाद विशेष कानून बनाकर इस अधिनियम को हटाया गया है। इसके पक्ष में यह तर्क दिया या कि किसी जाति विशेष के सदस्यों को जन्मना अपराधी मानना और उनके साथ अपराधी जैसा व्यवहार करना मानवोचित नहीं है। इस नई विचारधारा के तहत इस बात के लिए आंदोलन हुआ कि अपराधी जाति कानून को समाप्त कर दिया जाए और अभी तक अपराधी समझी जाने वाले जनजातीय समूहों को अपराध से हटाकर उत्पाद के कार्यों में लगाया जाए ताकि वे एक स्वतंत्र देश के सम्मनित नागरिक बन सके।"[8] फिर भी इसमें से कई ऐसी जनजातियाँ हैं जो सामुहिक रूप में अपराध जे जुडी हुई हैं। ये जनजातियाँ चोरी, डकैती, हत्या, देह-व्यवसाय, बंदर-रिछ के खेल दिखाना, रस्सी बूनना, सूअर पालना जौसे व्यवसाय करती हैं। ऐसी जनजातियों में कंजर, नट, बेडिया, पारधी, साँसी, कबूतरा, दुसाध जैसी जनजातियाँ समाविष्ट हैं।

आर्थिक आधार पर किया गया उपरोक्त वर्गीकरण आदिवासियों के अर्थतंत्र को उजागर करता है। जिससे यह साफ हो जाता है कि विज्ञान युग का अविर्भाव होने के बावजूद भी आदिवासी बहुत ही पीछडे हुए हैं। इनके समुचित विकास के लिए सरकार की ओर से ठोस कदम उठाये जाने की जरूरत है। जिससे कि आदिम जीवन में बदलाव हो। उन्हें मुख्यधारा के साथ लाया जा सके। भारतीय संविधान में जनजातियों के विकास के लिए प्रावधान करके प्रयास जरूर किये गए हैं लेकिन उन पर पूरी तरह से अमल होना भी जरूरी है।

**संदर्भ**

1. श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, पुनर्मुद्रित संस्करण, नई दिल्ली, 2010, पृ. 228
2. वहीं, पृ.229
3. वहीं, पृ.229
4. उमेश कुमार वर्मा, जनजातीय समाजशास्त्र, जानकी प्रकाशन, पटना, प्रथम संस्करण 2008 पृ.22
5. श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2010 पृ.233
6. वहीं, पृ.233
7. डीमजूमदार .एन., सामाजिक मानवशास्त्र परिचय, अनुवाद गोपाल भारद्वाज , नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1974 पृ.241
8. डीमजूमदार .एन., भारतीय जन संस्कृति, आपाला प्रकाशन मुद्रण सहकारी समिति, लखनऊ द्वितीय संशोधित संस्करण 1988, पृ. 177

Scanned with CamScanner